सांख्य-दर्शन

१. भूमिका

सांख्य दर्शन निःसन्देह भारतीय दर्शन के प्राचीनतम सम्प्रदायों में परिगणित है। सांख्य-योग सिद्धान्तों के संकेत छान्दोग्य[१], प्रश्न[२], कठ[३] तथा विशेषतया श्वेताश्वतर[४] उपनिषद् में प्राप्त होते हैं; महाभारत[५] और गीता[६] में भी उपलब्ध हैं; तथा कुछ स्मृतियों और पुराणों में भी मिलते हैं। ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र के रचयिता महर्षि बादरायण और उनके भाष्यकार शङ्कराचार्य ने तर्कपाद में सांख्य का युक्तियों द्वारा खण्डन करने के अतिरिक्त कई स्थानों पर सांख्य के श्रुतिमूलक होने का भी खण्डन किया है।[७] शङ्कराचार्य ने सांख्य को वेदान्त का 'प्रधान मल्ल' (प्रमुख प्रतिपक्षी) बताया है। उनका कथन है कि यद्यपि सांख्य महर्षि कपिल द्वारा उपदिष्ट है तथा सांख्य एवं योग को मनीषियों ने एवं शिष्ट व्यक्तियों ने स्वीकार किया है, तथापि सांख्य दर्शन को, द्वैतवादी होने के कारण, श्रुति-मूलक या उपनिषत्सम्मत नहीं माना जा सकता। श्रुति एवं स्मृति में सांख्य और योग शब्द क्रमशः ज्ञान और कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं। बादरायण एवं शङ्कराचार्य द्वारा सांख्य की श्रुतिमूलकता का खण्डन इस ओर संकेत करता है कि सांख्य के प्रारम्भिक आचार्य इसे श्रुतिमूलक मानते होंगे। इसकी अधिक सम्भावना है कि सांख्य अपने प्रारम्भिक रूप में, श्रुतिमूलक एवं ईश्वरवादी रहा होगा तथा कालान्तर में, जैन तथा बौद्ध प्रभाव के कारण, अनीश्वरवादी एवं वस्तुवादी बन गया होगा। बादरायण तथा शङ्कराचार्य ने इसी मध्य-युगीन सांख्य का खण्डन किया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आगे चलकर उत्तर-युगीन सांख्यों ने, जिनमें विज्ञान-भिक्षु (१६वीं शती) प्रमुख हैं, सांख्य में प्राचीन ईश्वरवाद को पुनः स्थापित किया।

परम्परानुसार महर्षि कपिल सांख्य के प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं। किन्तु 'सांख्यप्रवचनसूत्र' जिसे कपिल मुनि की रचना माना जाता है, निश्चित ही कपिल-प्रणीत नहीं हो सकता। अधिकांश विद्वान् इसे चौदहवीं शती की रचना मानते हैं। शङ्कराचार्य तथा अन्य प्राचीन आचार्यों ने सांख्यप्रवचनसूत्र का न तो उल्लेख किया है और न उसे उद्धृत किया

---

१. ६, ४, १
२. ६. २
३. १, ३, १०-१३
४. ४-५, १०
५. १२, ३१८; शान्तिपर्व ३०३-३०८
६. २, ३९; ३, ४२; ५, ४-५
७. १, १, ५-११; १, ४, १-३; २, १, १-३

है। इसके स्थान पर ईश्वरकृष्ण (तीसरी से पाँचवीं शती) की 'सांख्यकारिका' से ही उद्धरण दिये गये हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी सांख्यकारिका पर अपनी प्रसिद्ध 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' नामक टीका लिखी है। स्वयं ईश्वरकृष्ण ने कपिल, आसुरि तथा पञ्चशिख का प्राचीन सांख्याचार्यों के रूप में उल्लेख किया है। कपिल मुनि बुद्ध से पूर्व हुये हैं।[1] उन्होंने अवश्य 'सांख्य-सूत्र' की रचना की होगी, किन्तु वह दुर्भाग्यवश बहुत पहले ही विलुप्त हो गया होगा। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका सांख्य का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है और सर्वाधिक प्रचलित भी।

'सांख्य' शब्द 'संख्या' शब्द से व्युत्पन्न है; संख्या का अर्थ है सम्यक् ख्यान अर्थात् सम्यक् ज्ञान या विवेक ज्ञान। संख्या का अर्थ गणना की संख्या भी है। सांख्य शब्द में दोनों अर्थ समाविष्ट हैं। सांख्य सम्यक् ज्ञान का दर्शन है, प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान का दर्शन है; तथा सांख्य दर्शन तत्त्वों की संख्या पच्चीस स्वीकार करता है, यह पच्चीस संख्या वाले तत्त्वों का दर्शन है। सांख्य-योग मिलकर एक पूर्ण दर्शन बनते हैं; सांख्य बौद्धिक तत्त्वचिन्तन है और योग उसे प्राप्त करने की क्रिया या साधना है। सांख्य और योग ने प्राय: सभी भारतीय दर्शनों को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है।

ईश्वरकृष्ण का समय तीसरी शती से पाँचवीं शती तक माना जाता है। उनकी सांख्यकारिका उपलब्ध ग्रन्थों में प्राचीनतम तो है ही, साथ ही शास्त्रीय सांख्य की सर्वाधिक उत्कृष्ट प्रतिनिधि रचना है तथा सर्वाधिक लोकप्रिय भी है।

शास्त्रीय सांख्य प्रकृति और पुरुष के द्वैतवाद को, पुरुषबहुत्व को तथा अनीश्वरवादी वस्तुवाद को मानता है। यह ईश्वर का खण्डन तो नहीं करता, किन्तु ईश्वर के विषय में मौन रहता है तथा यह मौन अस्वीकृति का ही लक्षण माना जाता है।

२. कार्यकारणवाद

सांख्य के कार्यकारणवाद पर उसका प्रकृतिवाद निर्भर है क्योंकि प्रकृति की सिद्धि कारण के रूप में उसके कार्यों द्वारा होती है। कार्यकारणवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होना चाहिये क्योंकि बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। कार्यकारणवाद का मूल प्रश्न है—क्या कार्य, उत्पत्ति के पूर्व भी, अपने कारण में विद्यमान रहता है अथवा नहीं ? जो यह मानते हैं उन्हें सत्कार्यवादी और जो यह नहीं मानते उन्हें असत्कार्यवादी कहा जाता है। असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य, उत्पत्ति के पूर्व, 'असत्' है अर्थात् अपने कारण में विद्यमान नहीं है। कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से ही आरम्भ होती है, इस मान्यता के कारण असत्कार्यवाद को 'आरम्भवाद' भी कहते हैं। उत्पत्ति-पूर्व कार्य की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यदि कार्य उत्पत्ति-पूर्व ही विद्यमान है तो वह 'सत्' होने से 'उत्पन्न' है तथा उसकी उत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता। उसकी दुबारा उत्पत्ति पुनरुत्पत्ति होगी जो व्यर्थ है और अनावश्यक है। अत: कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से ही आरम्भ होती है। कार्य

---

१. पालि साहित्य में वर्णन आता है कि विरक्त होकर बुद्ध ने जिन गुरुओं के पास तपस्या की उनमें सांख्य के आचार्य आलार कालाम भी थे।

एक नूतन कृति है; एक नवीन सृष्टि है। यदि घट मृत्तिका में, पट तन्तुओं में तथा दही दूध में पहले से ही विद्यमान है, तो कुम्हार को मिट्टी से घड़ा बनाने के लिये परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है ? फिर तन्तु ही पट (कपड़ा) का काम क्यों नहीं करते ? और दूध का स्वाद दही जैसा क्यों नहीं होता ? हीनयानी बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक तथा कुछ मीमांसक असत्कार्यवाद या आरम्भवाद को मानते हैं। हीनयानी बौद्ध मत अनित्यपरमाणुकारणवाद या क्षणभङ्गवाद है। वैशेषिक, नैयायिक और कुछ मीमांसक नित्यपरमाणुकारणवाद स्वीकार करते हैं। असत्कार्यवाद के विपरीत सत्कार्यवाद यह मानता है कि कार्य, उत्पत्ति के पूर्व भी, अपने कारण में विद्यमान रहता है। कार्य उत्पत्ति-पूर्व भी 'सत्' है, इस मान्यता के कारण इस मत का नाम सत्कार्यवाद है। कार्य कारण में बीजरूप से अन्तर्निहित रहता है तथा कारण कार्य में स्वभावरूप से विद्यमान रहता है। कार्य नई सृष्टि नहीं है। उत्पाद का अर्थ 'नवीन उत्पत्ति' तथा विनाश का अर्थ 'सर्वथा विनाश' नहीं है। उत्पत्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति अर्थात् कारण में बीजरूप से या अव्यक्त रूप से अन्तर्निहित रहने वाले कार्य की व्यक्त रूप से प्रतीति, और विनाश का अर्थ है व्यक्त कार्य का पुनः अपने कारण में विलीन हो जाना। उत्पत्ति या सर्ग आविर्भाव है और विनाश या प्रलय तिरोभाव। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण ही कार्य के रूप में परिवर्तित होता है। कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो रूप हैं; कारणावस्था अव्यक्त रूप है, तथा कार्यावस्था व्यक्त रूप है। यहाँ एक प्रश्न फिर उपस्थित होता है। क्या कारण का कार्य के रूप में परिवर्तन वास्तविक या तात्त्विक परिवर्तन है अथवा अवास्तविक या अतात्त्विक परिवर्तन है ? जो इस परिवर्तन को वास्तविक या तात्त्विक मानते हैं, उन्हें 'परिणामवादी' कहा जाता है (परिणाम=तात्त्विक परिवर्तन) और जो इस परिवर्तन को अतात्त्विक या प्रातीतिक मानते हैं उन्हें 'विवर्तवादी' कहा जाता है (विवर्त=अतात्त्विक परिवर्तन)। सांख्य, योग और रामानुजवेदान्त परिणामवाद को मानते हैं; सांख्ययोग के मत का नाम प्रकृतिपरिणामवाद है तथा रामानुजवेदान्त का मत ब्रह्मपरिणामवाद है। शून्यवाद, मूल-विज्ञानवाद और अद्वैत वेदान्त (शाङ्कर वेदान्त) विवर्तवाद को मानते हैं; शून्यवाद शून्यता-विवर्तवाद है, मूलविज्ञानवाद विज्ञान-विवर्तवाद है और शाङ्करवेदान्त ब्रह्म-विवर्तवाद है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि परिणाम तथा विवर्त शब्दों का उक्त पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग आठवीं शती से रूढ़ हुआ है एवं इससे पूर्व के दार्शनिक साहित्य में इनका प्रयोग केवल 'परिवर्तन' के अर्थ में होता था और सन्दर्भ से पता लगाना पड़ता था कि परिवर्तन वास्तविक है या काल्पनिक। अतः शङ्कराचार्य से पूर्व के दार्शनिक साहित्य में परिवर्तन, अन्यथाभाव, परिणाम और विवर्त शब्दों का प्रयोग पर्यायों के रूप में कर दिया जाता था तथा शङ्करोत्तर काल से ही परिणाम और विवर्त शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में रूढ हुये हैं। जैन मत तथा आचार्य कुमारिल का मीमांसा-सम्प्रदाय सदसत्कार्यवाद को मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार कार्य, उत्पत्ति के पूर्व, अव्यक्त रूप में कारण से अभिन्न होने से 'सत्' है तथा व्यक्त रूप में न होने से 'असत्' भी है। तथापि सदसत्कार्यवाद का झुकाव परिणामवाद की ओर है। चार्वाक मत अनुमान को प्रमाण नहीं मानता अतः कार्यकारणवाद को भी नहीं मानता।

उसके अनुसार सृष्टि और उसका वैचित्र्य कारण-जन्य नहीं होकर स्वभावजन्य है। अतः चार्वाक मत को 'स्वभाववाद' कहा जाता है।

सत्कार्यवाद :—सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद को मानता है तथा उसके मत का नाम प्रकृति-परिणामवाद है। सृष्टि के सारे तत्त्व प्रलयावस्था में बीजरूप से या अव्यक्त रूप से प्रकृति के अन्तर्गत विद्यमान रहते हैं तथा सर्गावस्था में कार्यरूप से व्यक्त होते हैं। कार्य नई सृष्टि नहीं है; वह कारण की कार्यरूप में अभिव्यक्ति है। सांख्य ने सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिये पाँच युक्तियाँ दी हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) यदि कार्य, उत्पत्ति के पूर्व, कारण में विद्यमान न हो, तो वह 'असत्' होगा; असत् होने से वह शशशृंग तथा खपुष्प के समान होगा और असत् की उत्पत्ति किसी प्रकार कभी नहीं हो सकती। हजारों शिल्पी मिलकर भी आकाश में महल नहीं बना सकते। (असदकरणात)।

(२) प्रत्येक कार्य अपने उपादानकारण या समवायिकारण से सम्बद्ध रहता है और इसीलिये उससे उसकी उत्पत्ति होती है। यदि कारण-व्यापार के पूर्व कार्य की सत्ता न हो तो अविद्यमान कार्य का सम्बन्ध अपने उपादानकारण से किस प्रकार सम्भव होगा? सम्बन्ध दो सत् पदार्थों के बीच ही हो सकता है। उपादानकारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। मिट्टी के बिना मृण्मय घड़ा, तन्तुओं के बिना कपड़ा और तिलों के बिना तिल का तेल नहीं बन सकता। इससे कार्य की उपादानकारण में विद्यमानता सिद्ध है। (उपादानग्रहणात्)।

(३) कार्य को उत्पत्ति-पूर्व भी उपादानकारण में विद्यमान मानना पड़ेगा, अन्यथा किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव माननी पड़ेगी और यह असम्भव है। सभी कारणों से सभी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते। (सर्वसम्भवाऽभावात्)।

(४) शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति सम्भव है। जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, उस कारण से वही कार्य उत्पन्न हो सकता है। इसका अर्थ है कि जो कार्य बीजरूप से जिस कारण में विद्यमान है, वही कारण उसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है। यदि ऐसा न हो, तो पानी से दही जम जायेगा, बालू से तेल निकलेगा और बैल से दूध दुहा जा सकेगा। अतः सिद्ध है कि शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति सम्भव है। (शक्तस्य शक्यकरणात्)।

(५) कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो रूप हैं। कारण कार्य की अव्यक्तावस्था है और कार्य कारण का व्यक्त रूप है। कारण का जो स्वभाव होता है वही स्वभाव कार्य का भी होता है। मिट्टी से बने घड़े का स्वभाव भी मिट्टी जैसा होता है। कार्य कारणात्मक होता है अर्थात् तात्त्विक रूप से कार्य कारण से अभिन्न होता है तथा दोनों का भेद व्यावहारिक है। (कारणभावात्)। अतः सत्कार्यवाद सिद्ध है।[१]

---

१. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। सांख्यकारिका, ९